

## शिक्षा के दर्शन की जरूरत जॉन डिवी

अमेरिका में जन्मे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और शिक्षा सुधारक जॉन डिवी (1859-1952) उन विरले शिक्षा चिन्तकों में से हैं जिन्होंने अपने देश की सरहदों को पार करते हुए विश्व स्तर पर शिक्षा चिन्तन और शिक्षा के व्यवहार को प्रभावित किया है। वे 'प्रगतिशील शिक्षा' आन्दोलन के अगुवा प्रतिनिधि थे। आज के समय में भी शिक्षा दर्शन पर बात करते हुए जॉन डिवी के नाम के बगैर चर्चा अधूरी ही रहती है।

जॉन डिवी के शिक्षा चिन्तन ने सही मायने में शिक्षा को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। उनके अनुसार शिक्षा सुविचारित और सुनियोजित कर्म है। वे अपने शिक्षा दर्शन में अन्तः क्रिया, पुनर्चिन्तन और अनुभव पर बल देते हैं जिससे कि शिक्षार्थी सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में सक्रिय भागीदार बने। जॉन डिवी के शिक्षा दर्शन में यह भागीदारी शिक्षार्थी के सिर्फ सामाजीकरण या ज्ञान के हस्तान्तरण मात्र के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन के लिए भी आवश्यक है। उनके अनुसार शिक्षा लोकतंत्र को सुचारू रखने एवं समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भी अनिवार्य है।

इस लेख में वे परंपरागत रूप से चली आ रही शिक्षा व्यवस्था की आलोचना यह कहते हुए करते हैं कि परंपरागत शिक्षा व्यवस्था में विषयवस्तु जड़ हो चुकी है, सिखाने के तरीकों में सत्तावादिता है और शिक्षार्थी को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता माना जाता रहा है। वे शिक्षा के दर्शन की आवश्यकता पर बल देते हैं और कहते हैं कि शिक्षा दर्शन की जरूरत वास्तव में शिक्षा क्या है और जब शिक्षा हो रही होती है तब वास्तव में क्या हो रहा होता है, यह पता लगाने में है।

### लेखक परिचय :

जॉन डिवी (1859-1952) जाने-माने अमेरिकी शिक्षा दार्शनिक। जॉन डिवी के शिक्षा दर्शन पर आधारित बहुत से स्कूल आज भी अमेरिका में चल रहे हैं।

### पुस्तक :

'डेमोक्रेसी एण्ड एज्युकेशन', 'द स्कूल एण्ड सोसायटी', 'द चाइल्ड एण्ड करिक््युलम', 'हाऊ वी थिंक', 'एक्सपिरियेंस एण्ड नेचर' और 'माई पैडागॉजिक क्रीड'।

'प्रगतिशील शिक्षा' एक ऐसा मुहावरा है जो कि शिक्षा के विरोध में नहीं भी तो उसके तीखे विभेद से उत्पन्न हुआ है। उस शिक्षा के तीखे विभेद से जिसकी विषयवस्तु मुख्यतः जड़ है, सिखाने के तरीकों में सत्तावादी है और जो शिक्षार्थियों को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता के रूप में देखती है। लेकिन शिक्षा के दर्शन को शिक्षा के ऐसे किसी भी विचार से कहीं आगे जाना चाहिए जो विभेद, प्रतिक्रिया या विरोध स्वरूप निर्मित हुआ हो। क्योंकि यह इस बात का पता लगाने का प्रयास करता है कि शिक्षा क्या है और वह कैसे घटित होती है। जब हम शिक्षा को सिर्फ विद्यालयी शिक्षा के संदर्भ में देखते हैं तब भी क्या यह बताना आसान होता है कि वास्तव में शिक्षा क्या है और शिक्षा क्या है इसके बारे में स्पष्ट विचार भी हमें सिर्फ विद्यालयों में जो होता है उसके पैमानों का निर्धारण करने और उन्हें निर्देशित करने का काम मात्र ही करता है।

कई बार ऐसा मान लिया जाता है कि शिक्षा को कैसा होना चाहिए यह बताना

शिक्षा के दर्शन का काम है। जबकि वास्तव में शिक्षा को कैसा होना चाहिए यह पता लगाने का एकमात्र ऐसा रास्ता जो हमें कम से कम धुंधलके में न ले जाता हो, इस बात की खोज करना है कि जब शिक्षा हो रही होती है तब वास्तव में वह क्या है जो घटित होता है। और शिक्षा के दर्शन के निर्माण से पहले हमें यह ठीक-ठीक मालूम होना चाहिए कि मानव स्वभाव कैसे बनता है; हमें यह भी मालूम होना चाहिए कि वास्तविक सामाजिक ताकतें कैसे काम करती हैं; हमें उन तौर-तरीकों के बारे में भी पता होना चाहिए जिनके माध्यम से आधारभूत कच्चे माल को परिष्कृत कर व्यापक महत्त्व का बनाया जाता है। इस तरह शिक्षा के दर्शन की जरूरत मूलतः शिक्षा क्या है यह पता लगाने की जरूरत में निहित है। हमें उन मामलों को देखने की जरूरत है जिनमें हम वास्तव में अपेक्षित शक्तियों का विकास होते हुए देखते हैं और यह भी पता लगाते हैं कि यह विकास किस तरह घटित हुआ। इसके बाद हमारे आगे के प्रयासों को दिशा देने के लिए हम इन घटनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं कि इनमें क्या और कैसे हुआ। इसे पता लगाने और उसे प्रस्तुत करने की जो आवश्यकता है वही शिक्षा के दर्शन की भी आवश्यकता है।

यानी शिक्षा वही है जब हम उसके अस्तित्व में होने के संतोषजनक उदाहरण प्राप्त करने में सफल होते हैं। सबसे पहले तो यह विकास की, आगे बढ़ने की एक प्रक्रिया का नाम है। और यह एक प्रक्रिया है, जिसमें सिर्फ परिणाम महत्त्वपूर्ण नहीं है। व्यक्ति का सही अर्थों में स्वस्थ होना कोई स्थाई और पूर्ण अवस्था नहीं होती। बल्कि व्यक्ति की प्रक्रियाएं और गतिविधियां इस रूप में चलती रहनी चाहिए कि वह निरंतर स्वस्थ बना रह सके। इसी तरह से एक शिक्षित व्यक्ति भी वही है जिसमें निरंतर और अधिक शिक्षा अर्जित करने की सामर्थ्य बनी रहे। तब विकास से, आगे बढ़ने से हमारा क्या आशय है ? कुछ आरंभिक शिक्षाशास्त्रियों जैसे रूसो और उनके अनुयायियों ने इसकी तुलना एक बीज के एक पूर्ण विकसित पौधे के रूप में रूपांतरण के उदाहरण के साथ की। उन्होंने यह तुलना की ताकि इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सके कि मनुष्य मात्र में एक ऐसी क्षमता अंतर्निहित होती है कि यदि उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो अंततः वे भी उसी तरह फलीभूत होते हैं। इसीलिए उन्होंने निर्देशित विकास को अस्वाभाविक बताते हुए उसके विरोध स्वरूप स्वाभाविक विकास की बात कही।

लेकिन सबसे पहले तो मनुष्य की तुलना में बीज का विकास बहुत सीमित संदर्भ में होता है; उसका भविष्य उसकी पूर्व प्रकृति से निर्धारित होता है। बीज में यह क्षमता नहीं होती कि वह अपनी निर्धारित दिशा से भिन्न दिशा में विकसित हो

सके या भिन्न परिणाम दे सके जबकि शिशु मनुष्य की यह खूबी है कि वह ज्यादा लचीला और विविध गुणों से सम्पन्न होता है। यदि आप उसे बीज ही बुलाना चाहें तब भी उसमें यह क्षमताओं का पुंज होता है जो नीम के पेड़ की तरह तन कर खड़ा रह सकता है तो हवा के हर झोंके के साथ झुकने वाली किसी शाखा की तरह भी हो सकता है, वह कंटीले कैक्टस की तरह हो सकता है तो विषैली झाड़ी की तरह भी हो सकता है।

यह तथ्य एक अन्य खामी की ओर हमारा ध्यान दिलाता है। किसी भी बीज से पौधे का विकास स्वतः नहीं होता है। उसे पनपने के लिए हवा, प्रकाश और नमी की जरूरत होती है। अंततः इसका विकास उन स्थितियों या ताकतों पर निर्भर करता है जो उससे बाहर स्थित हैं। यदि जीवन है और उसका विकास होना है तो उसकी अंतर्निहित शक्तियों की अंतःक्रिया आस-पास की शक्तियों के साथ होनी ही चाहिए। वास्तव में विकास चाहे पौधे का ही क्यों न हो वह स्वयं उसके भीतर और उसके आस-पास के वातावरण का निर्माण करने वाली ताकतों के बीच एक प्रकार की अंतःक्रिया का ही मसला है। चाहे नीम का सीधा खड़ा पेड़ हो चाहे बहुत कम बालियों वाले ज्वार के पौधे की एक डंडी ही क्यों न हो वह उसी तरह से अपने तथाकथित स्वाभाविक विकास को प्रदर्शित कर रही होती है जिस तरह फैली हुई शाखाओं वाला कोई छतनार पेड़ या किसी प्रदर्शनी में पुरस्कार प्राप्त करने योग्य दानों से भरी हुई ज्वार की कोई बाली। इन परिणामों की भिन्नता कुछ हद तक उसके अंतर्निहित कारणों पर निर्भर कर सकती है, लेकिन कुछ हद तक आस-पास के वातावरण का भी उसमें योगदान होता है। इतना ही नहीं बेहतरीन अंतर्निहित खूबियों वाला पौधा भी असमय नष्ट हो सकता है या बीमार फल दे सकता है यदि उसकी अंतर्निहित ऊर्जा की उसके लिए उपयुक्त बाहरी स्थितियों जैसे प्रकाश, हवा और नमी के साथ अंतःक्रिया न हो तो।

चूंकि किसी भी अंतःक्रिया में दो तरह के घटक शामिल होते हैं, शिक्षा के विचार और आदर्श को दोनों का ध्यान रखना ही चाहिए। परम्परागत विद्यालयी विधियां और विषय मनुष्य मात्र में मौजूद क्षमताओं और उनकी आवश्यकताओं में विविधता को संबोधित करने में नाकाम रहे हैं। दरअसल इस व्यवस्था में यह मान लिया गया है कि कम से कम शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने के लिए सभी मनुष्यों को एक मटर की फली में भरे दानों की तरह एकरूप मान लिया गया और इसीलिए सबके लिए एक समान शिक्षाक्रम विकसित किया गया।

दूसरे, यह इस बात को पहचानने में भी नाकाम रहा है कि विकास की शुरुआत विद्यार्थी की सामर्थ्य और उसकी आवश्यकता पर निर्भर

करती है। अंतःक्रिया का पहला चरण जिसकी परिणति विकास के रूप में होती है, व्यक्तिगत इंद्रिय बोध से बाहर आना है, एक ऐसे प्रयास के द्वारा जिसे शुरुआत में अपनी दिशा मालूम नहीं होती है, ताकि उन संसाधनों को अर्जित किया जा सके जिनकी विद्यार्थी की क्षमताओं को आवश्यकता है ताकि उन्हें काम में लाया जा सके और उसके द्वारा संतोष प्राप्त किया जा सके। जैसा कि शरीर के साथ होता है। भूख का होना और भोजन को पचाने की क्षमता का होना पहली आवश्यकता है जिसके बिना पोषक से पोषक भोजन भी परोसना व्यर्थ साबित होगा। यदि हम सामान्यतः स्वीकृत कर ली गई ऐसी पूर्व धारणाओं जो यह कहती हैं कि व्यक्ति का मस्तिष्क स्वाभाविक तौर पर सीखने के खिलाफ होता है और उन्हें सीखने की ओर प्रवृत्त करने के लिए समझाना या धमकाना पड़ता ही है, इन पर विश्वास करने की बजाय एक उपयुक्त शिक्षा व्यवस्था का निर्माण कर पाते हैं तो इससे अद्वितीय और कुछ नहीं होगा। प्रत्येक मस्तिष्क, यहां तक कि छोटे से छोटे बच्चे का मस्तिष्क भी, स्वाभाविक रूप से उन सक्रिय गतिविधियों को स्वतः सीखने की ओर प्रवृत्त होता है जो उसकी क्षमताओं के दायरे में आती हों, जैसे कि नवजात शिशु भी जब तक जाग रहा होता है तब तक उसका शरीर लगातार सक्रिय रहता है। एक जटिल किंतु नाजुक समस्या यह पता लगाना है कि वास्तव में कौन सी प्रवृत्तियां खासतौर से किस समय में आकार ग्रहण करती हैं और कौन सी सामग्रियां और विधियां प्रत्यक्ष और सही मायने में शैक्षणिक विकास की दिशा में प्रेरित करेंगी।

सीखना और विकास करना प्रत्येक सीखने वाले में निहित होता है, परम्परागत शिक्षा व्यवस्था के यह देख पाने में विफलता के पीछे शिक्षक की ओर से आरोपित की जाने वाली विधियां और विद्यार्थियों के द्वारा उन्हें जिस रूप में ग्रहण और आत्मसात किया जाता है दोनों ही समान रूप से जिम्मेदार हैं। जब व्यक्ति के निर्माण की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पहचानने में सफलता नहीं मिलती है तो यह स्वाभाविक ही है कि सीखने के प्रति भी उत्साह की कमी देखने को मिलती है। तब इन आरोपित विषयों और क्षमताओं के ग्रहण किए जाने और ठहराव की जांच के लिए तमाम किस्म के बाह्य

उपकरणों पर निर्भर रहना पड़ता है। शिक्षण की इस विधि की तुलना ऐसी कैसेट रिकॉर्डिंग से की जा सकती है जिस पर रिकॉर्ड किया ही नहीं जा सकता हो और फिर उससे यह उम्मीद की जाए कि सही बटन दबाने पर या जांचने पर कैसेट पर वही सब बजने लगे जो उस पर रिकॉर्ड किया गया है।

**पुरानी परम्परागत शिक्षा व्यवस्था की बड़ी कमजोरी सिर्फ यही नहीं थी कि वह निश्चित विषय-वस्तु और गतिविधियों के प्रावधानों की आवश्यकता पर बहुत जोर देती थी। यह बातें ऐसी किसी भी चीज के लिए आवश्यकता हो सकती हैं जिसे सही मायने में शिक्षा कहा जा सकता है। कमजोरी और बुराई तो यह थी कि शिक्षक की कल्पनाशीलता विषय-वस्तु के बंधे हुए प्रावधानों और रूढ़ दायरों से परे नहीं जाती थी और यह प्रावधान और दायरे उन स्रोतों से निर्धारित होते थे जो विद्यार्थियों के अपने अनुभवों से बहुत दूर के होते थे।**

यह निस्संदेह किसी भी शिक्षक के लिए असंभव है कि उसे यह दिखाई न दे कि उसके विद्यार्थियों के बीच कितना फर्क है। लेकिन इस फर्क को व्यक्तित्व के फर्क, जरूरतों के फर्क, आकांक्षाओं के फर्क, मौलिक रुचियों की दिशाओं में फर्क, जैसे ठोस फर्क के रूप में देखा और समझा नहीं जाता है इसलिए उन्हें सामान्यतः दो वर्गों में बांट कर देखा जाने लगता है। कुछ विद्यार्थी होशियार मान लिए जाते हैं और अन्य को स्वाभाविक रूप से भौदू और मूर्ख मान लिया जाता है। कुछ आज्ञाकारी और विनम्र माने जाते हैं जबकि कुछ की गिनती बदमाश और परेशानी पैदा करने वाले विद्यार्थियों के रूप में की जाने लगती है। ऐसे में पहल करना, मौलिकता और व्यक्तित्व की स्वतंत्रता जैसे जीवन

के बेहतर पक्षों की बजाय अनुमोदन की प्रवृत्ति विद्यार्थियों के मूल्यांकन का पैमाना बन जाता है।

हालांकि विकास की शुरुआत और उसके लिए आवश्यक कच्चा माल व्यक्तिगत क्षमताओं में निहित होता है, लेकिन उसके लिए वातावरण और परिस्थितियों का निर्माण शिक्षा देने वालों की जिम्मेदारी होती है और व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमताओं के विकास के लिए वही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती हैं। व्यक्तिगत क्षमताएं शुरुआत या आरंभिक बिंदु होती हैं। वे अंत नहीं हैं और न ही वे अंत को निर्धारित करती हैं। कोई भी माली या धातुओं के साथ काम करने वाला व्यक्ति अपने काम में तब तक ज्यादा विकास नहीं कर सकता जब तक कि वह अपने काम में आने वाली वस्तुओं और अपने काम की आवश्यकताओं का अवलोकन नहीं करे और उन पर ध्यान न दे। लेकिन यदि उसे क्या करना है इसके लिए वह पूरी तरह इन वस्तुओं पर ही निर्भर हो जाए तब तो उसका कुछ भी नहीं हो सकता। विकास बंधक बन जाएगा, उसे बढ़ावा

नहीं मिलेगा। उसका ध्यान इस ओर दिलाया जाना चाहिए कि उसकी क्षमताओं का जितना विकास हो सकता है उतना नहीं हो पा रहा है। इस विचार और उसके विकास की आदर्श स्थिति को कच्चे माल यानी व्यक्तिगत क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए एक दिशा में होना चाहिए; यह इस तरह हो कि उनके साथ हिंसा न करे; बल्कि उनकी क्षमताओं को व्यक्त करे। लेकिन यह अभी वे कैसे हैं इसके किसी अध्ययन के द्वारा नहीं किया जा सकता है। यह उन्हें कल्पनाशीलता के साथ देखते हुए, उस पर विचार करते हुए विकसित होना चाहिए; और इस तरह इसे ऐसे किसी स्रोत से आना चाहिए जो अभी उपलब्ध स्रोतों से भिन्न हो।

शिक्षकों के संदर्भ में विद्यार्थियों की क्षमताओं के बारे में कल्पनाशील अंतर्दृष्टि की आवश्यकता बहुत ज्यादा हो जाती है। माली या धातुओं के साथ काम करने वाला व्यक्ति अपने काम के पैमाने पौधों या कच्ची धातुओं के साथ पूर्व में किए गए कार्यों के आधार पर भी निर्धारित कर सकते हैं, फिर भी यदि वे मौलिक और कल्पनाशील हैं तो उनमें कुछ विविधता ला सकते हैं। लेकिन मनुष्यों में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वरूप और संभावनाओं में पर्याप्त भिन्नता लिए होते हैं, ऐसी भिन्नता जो पौधों और धातुओं में नहीं होती। हालांकि शिक्षकों को भी पूर्व में किए गए प्रयासों के परिणामों का इस्तेमाल करना चाहिए, लेकिन यदि वे सच्चे शिक्षक हैं तो वे इन्हें कभी भी पूरा और अंतिम पैमाना नहीं मान सकते। जैसे कि कोई भी कलाकार पूर्व में बनाई गई किसी कलाकृति की हबहू पुनरावृत्ति नहीं कर सकता।

जो भी हो विकास या वृद्धि में एक निश्चित दिशा में परिवर्तन या संशोधन निहित होता है। यह बहुत संभव है कि कोई भी शिक्षक व्यक्तित्व के विकास के विचार के तहत अनुमानित पाठदियों को आरोपित करते हुए विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को उनके वर्तमान स्तर पर ही स्थिर कर दे। व्यक्ति का सम्मान मूलतः बौद्धिक बात है। इसमें पहले व्यक्ति में इस बात पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि उसके साथ किस तरह से काम किए जाने की आवश्यकता है। इस बारे में सहानुभूतिपूर्ण समझ बनने के बाद व्यावहारिक रूप से काम शुरू होता है, क्योंकि व्यावहारिक कार्य एक प्रकार से निरंतर जारी रहने वाला पुनर्निर्माण, संशोधन या बदलाव है। यह बदलाव कम से कम ज्यादा प्रभावी तकनीकों, ज्यादा आत्मनिर्भरता, ज्यादा विचारपूर्ण और खोजी प्रवृत्तियों और कठिनाइयों का सामना करने में व्यक्ति को ज्यादा समर्थ बनाने की दिशा में होना चाहिए।

खुद को प्रगतिशील बताने वाले कुछ विद्यालयों और शिक्षकों की कमजोरी यह हो सकती है कि वे सत्तावादी और बाहरी आरोपण वाली परम्परागत विधियों की प्रतिक्रिया में कहीं व्यक्ति की अंतर्निहित

क्षमताओं और हितों को मुक्त अवसर देने के महत्त्व को ही पहचानने में नाकाम साबित हो जाएं। पहले तो वे वास्तव में यह क्या हैं इन्हें पहचानने के लिए पर्याप्त समय और इनकी छानबीन के लिए पर्याप्त अवसर ही नहीं देते हैं। दूसरे वे व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले व्यक्तिगत गुणों को ऐसी संभावनाओं के रूप में नहीं देखते जिन्हें उपयुक्त दिशा देकर ज्यादा महत्त्वपूर्ण, मूल्यवान और प्रभावी बनाया जा सकता है बल्कि उन्हें ही निर्णायक मान लेने की ओर प्रवृत्त नजर आते हैं। अब भी अनेक तबके ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि विकास और प्रगति जन्मजात या व्यक्ति में अंतर्निहित होती है और इसके लिए कोई प्रयास नहीं किया जाए तब भी वह लगभग स्वतःस्फूर्त रूप में प्रकट हो ही जाती है।

यह नजरिया बाहरी आरोपण की प्रकट बुराइयों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। लेकिन एक विकल्प भी है; और यह विकल्प कोई बीच का रास्ता या दो प्रक्रियाओं के बीच समझौता मात्र नहीं है। बल्कि यह दोनों से ही पूर्णतः भिन्न है। पहले से मौजूद रुचियों और क्षमताओं को संभावनाओं, प्रस्थान बिंदुओं के रूप में देखा जाए यह किसी भी स्वस्थ विकास के लिए जरूरी होता है। लेकिन विकास में यह निहित होता है कि उसे किस बिंदु से किस बिंदु की ओर होना है; इसमें एक निर्धारित दिशा की ओर निरंतर प्रगति होते रहना शामिल होता है। जब उस बिंदु तक पहुंच जाते हैं तब जो एक निर्धारित समय के लिए लक्ष्य था वही बिंदु आगे के पुनर्निर्माण के लिए प्रस्थान बिंदु बन जाता है। वयस्क जिन्हें अपने से छोटों के साथ व्यवहार करना है उनके सामने बड़ी समस्या सिर्फ गहराई से महसूस करना है और बौद्धिकता के साथ यह देखना ही नहीं है कि कौनसी ताकतें युवाओं के भीतर संचालित हो रही हैं बल्कि उन्हें इन ताकतों में निहित उन संभावनाओं और संकेतों को भी समझना होता है, संक्षेप में कहा जाए तो जो उनका भावी व्यक्तित्व बन सकता है। बात यहां भी खत्म नहीं होती है। यह आगे चल कर निर्णय करने, स्थितियों का निर्माण, भौतिक सामग्रियों जैसे कार्य के उपकरणों और नैतिक तथा सामाजिक सामग्रियों आदि की समस्याओं से भी जुड़ता है जो एक बार फिर उपस्थित ताकतों और प्राथमिकताओं के साथ अंतःक्रिया करता है ताकि वांछित दिशा में बदलाव को लाया जा सके।

पुरानी परम्परागत शिक्षा व्यवस्था की बड़ी कमजोरी सिर्फ यही नहीं थी कि वह निश्चित विषय-वस्तु और गतविधियों के प्रावधानों की आवश्यकता पर बहुत जोर देती थी। यह बातें ऐसी किसी भी चीज के लिए आवश्यकता हो सकती हैं जिसे सही मायने में शिक्षा कहा जा सकता है। कमजोरी और बुराई तो यह थी कि शिक्षक की कल्पनाशीलता विषय-वस्तु के बंधे हुए प्रावधानों और

रूढ़ दायरों से परे नहीं जाती थी और यह प्रावधान और दायरे उन स्रोतों से निर्धारित होते थे जो विद्यार्थियों के अपने अनुभवों से बहुत दूर के होते थे। नई शिक्षा में जिस बात की आवश्यकता है वह यह कि तकनीकों की प्रगति ही नहीं विषय-वस्तु की ओर भी कम नहीं बल्कि ज्यादा ध्यान दिया जाए। लेकिन जब मैं कहता हूँ तो ज्यादातर मेरा आशय पुरानी किस्म की चीजों को मात्रा की दृष्टि से बढ़ाने से नहीं होता है बल्कि मेरा आशय ऐसी कल्पनाशील दृष्टि से होता है जो यह देख सके कि कोई भी प्रस्तावित और बनी-बनाई विषय-वस्तु प्रत्येक युवा व्यक्ति के बेहतर शैक्षिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती; कि प्रत्येक नए व्यक्ति के सामने नई समस्याएं होती हैं; कि उसे प्रस्तुत विषय-वस्तु में कम से कम कुछ हद तक भिन्न दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। वह परम्परा जो यह मान कर चलती है कि बीजगणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की पाठ्यपुस्तकों में छपी सामग्री सभी बच्चों के शैक्षिक विकास के लिए समान रूप से उपयोगी है, इससे बड़ा अंधविश्वास कोई नहीं है।

लेकिन पुरानी पाठ्यचर्या के तथ्यशुदा और संकीर्ण दायरों को नकारना इस मसले का नकारात्मक पक्ष मात्र है। यदि हम पुरानी शिक्षा व्यवस्था की तुलना में ज्यादा समृद्ध, विविध और लचीली विषयवस्तु उपलब्ध कराने और साथ ही ज्यादा प्रत्यक्ष सत्य जो शिक्षित व्यक्तियों के अनुभव के पैमानों पर जांचा गया हो, की सकारात्मक दिशा में दूर तक आगे नहीं बढ़ते हैं तो यह संभव है कि हम एक ऐसा खालीपन छोड़ दें जिसमें कुछ भी हो सकता है। प्रकृति में पूर्ण अलगाव असंभव है। हम चाहें या न चाहें युवा लोग किसी न किसी वातावरण के बीच में रहते हैं, इस वातावरण की अंतःक्रिया निरंतर युवा और बच्चे इसमें जिन चीजों को लाते हैं उनसे होती रहती है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षाप्रद या गैर शिक्षाप्रद तरीकों से उनकी रुचियों, मस्तिष्क और चरित्र का निर्माण होता है। यदि शिक्षक बच्चों के विकास के लिए स्वयं अपनी निगाह

में उपयुक्त वातावरण को चुनने एवं उसके बारे में निर्णय करने की जिम्मेदारी से मुंह मोड़ लें तो बच्चे आधुनिक सामाजिक वातावरण

की उन अगंभीर और असंगठित ताकतों की दया पर निर्भर हो जाते हैं जो सारी उम्र उनके जीवन को नियंत्रित करती रहती हैं। शिक्षाप्रद वातावरण में शिक्षक का अनुभव, निर्णय और ज्ञान परम्परागत विद्यालयों की तुलना में छोटा नहीं बल्कि बड़ा ही घटक होता है। फर्क यह है कि शिक्षक किसी निरंकुश सत्ता द्वारा आरोपित उच्चासन पर बैठे मजिस्ट्रेट की तरह काम नहीं करता है बल्कि वह एक ज्यादा आम गतिविधि में दोस्ताना सहभागी या गाइड की तरह काम करता है।

विकास हालांकि एक निरंतर प्रक्रिया है और निरंतरता किसी कार्य की तार्किक क्रमिकता को रेखांकित करती है। परम्परागत शिक्षा का यह सबसे मजबूत पक्ष था। गणित तथा अन्य विषयों पर जिन्होंने महारथ हासिल की उनके लिए इन विषयों की विषय-वस्तु का निश्चित दिशा में क्रमिक विकास आवश्यक था। संभवतः शिक्षा के क्षेत्र में नए प्रयासों के सामने सबसे बड़ी समस्या इसी में निहित है। तात्कालिक सुधार का प्रयास करना अपेक्षाकृत आसान है, कि आज कुछ प्रयास किया, कुछ इस सप्ताह में किया, तो कुछ प्रयास कल कर लिए या अगले सप्ताह कर लिए। कुछ तात्कालिक हितों या उद्दीपनों के आधार पर चीजें कर ली गईं बिना इस बात की ओर पर्याप्त ध्यान दिए कि वे किस ओर ले जाती हैं, क्या किसी ज्यादा कठिन

चीज की ओर ले जाती हैं या नहीं। सूचनाओं के लिए नई मांग बनाना, तकनीकों में ज्यादा उपयुक्तता अर्जित करना या नए किस्म के कौशल अर्जित करना इस बात पर निर्भर करता है कि जो शुरू किया गया है उसी में से स्वाभाविक रूप से उनका विकास हो जाए। स्वतः स्फूर्त और अबाधित रुचियों को ध्यान में रखने की जरूरत एक वाजिब जरूरत है, लेकिन विचार और सावधानी के बिना बहुत जल्दी ही इसकी परिणति अलग-थलग गतिविधियों और परियोजनाओं

**एक ऐसा विश्व जो बेरहम प्रतिस्पर्धा के द्वारा बड़े पैमाने पर भौतिक लाभ अर्जित करने की अंधी और बहुधा बर्बर दौड़ में लगा हुआ है। ऐसे समय में यह विद्यालयों की जिम्मेदारी है कि वे समझदारी के साथ संगठित होकर लगातार इस दिशा में प्रयास करें कि प्रत्येक व्यक्ति में सहयोग की इच्छा शक्ति और भावना सर्वोपरि हो और प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक मानवीय आविष्कारों, उद्योग, कौशल और ज्ञान के भौतिक और सांस्कृतिक फायदों में बराबर का हिस्सा मिले। सोच और व्यवहार में इस उद्देश्य की सर्वोपरिता, आर्थिक प्रतिस्पर्धा और शोषण के कारण पनपने वाली अमानवीयता के प्रतिरोध के अलावा अन्य कारणों से भी अनिवार्य है। यह अत्यंत आवश्यक है कि आने वाली पीढ़ी को एक ज्यादा मानवीय और न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए तैयार किया जाए, ऐसा समाज अवश्य ही बनेगा और जब तक इसके लिए दिलों और दिमागों को शिक्षा के माध्यम से तैयार नहीं किया जाता है यह आशंका बनी रहेगी कि आने वाला यह समाज भी हिंसा से उपजे सामाजिक बदलावों से पैदा हुई बुराइयों से ग्रसित रहे।**

की असंपृक्त विविधता के रूप में हो सकती है, और विकास के लिए आवश्यक निरंतरता इसमें खो सकती है। वास्तव में नई शैक्षणिक प्रक्रियाओं में पहले की तुलना में शिक्षकों को कहीं ज्यादा तैयारी की आवश्यकता होती है- क्योंकि पहले तो निर्धारित पाठ्यक्रम में ही वह सारी तैयार अग्रिम रूप में हो जाती थी।

मैंने वातावरण के महत्त्व की बात की है, लेकिन पुख्ता शिक्षा के दर्शन के लिए यह जरूरी है कि वातावरण नाम के सामान्य से शब्द को स्पष्ट किया जाए। इसे मूलतः मानवीयता और सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। सामाजिक वातावरण के प्रभाव के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति जिस सांस्कृतिक समूह से संबंधित है उसके रीति-रिवाजों, आस्थाओं, उद्देश्यों, कौशलों, उम्मीदों और डरों को आत्मसात करता है। यहां तक कि इस भौतिक वातावरण के गुणावगुण भी उस तक समुदाय की आंखों और कानों के माध्यम से पहुंचते हैं। पर्वत और मैदान, पेड़-पौधे और पशु-पक्षी, मौसम और ऋतुओं में परिवर्तन, सब व्यक्ति जिस समाज का हिस्सा हैं उसकी परम्पराओं और स्मृतियों, उनके प्रमुख कार्यों और हितों की चारित्रिक विशेषताओं के आवरण में लिपटे रहते हैं। शिक्षा के आरंभिक वर्षों में यह खासतौर से महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि विषय-वस्तु को मानवीय संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए। विद्यालय सबसे ज्यादा इसी में विफल रहे हैं। हमें बताया जाता है कि निर्देश ठोस से धीरे-धीरे अमूर्त की ओर जाने चाहिए, लेकिन इस बात को भुला दिया जाता है कि बच्चे के अनुभव में सिर्फ वे ही चीजें ठोस होती हैं जिनका कोई मानवीय मूल्य और भूमिका हो। उनके प्रकृति के अध्ययन और भूगोल में भौतिक चीजों को इस तरह प्रस्तुत किया जाता है मानो वे पूर्णतः स्वतंत्र और अपने आप में ही परिपूर्ण हों। जबकि बच्चे के वास्तविक अनुभव में उसके लिए इन वस्तुओं का महत्त्व तभी स्थापित होता है जब मानवीय जीवन के साथ उनका संबंध नजर आने लगता है। यहां तक कि नितान्त मानवीय उत्पाद जैसे लिखना और पढ़ना, जो मूलतः मनुष्य के परस्पर संबंध को मजबूत बनाने के उद्देश्य से विकसित किए गए हैं, उनके साथ भी ऐसा बर्ताव किया जाता है मानो वे अपने आप में कोई विषय हों। उन्हें उस तरह काम में नहीं लाया जाता है जैसे सामान्य बोलचाल में भाषा का प्रयोग किया जाता है और यही कारण है कि वे भी बच्चों के लिए अमूर्त हो जाते हैं, एक ऐसा रहस्य जिसका संबंध सिर्फ विद्यालय से है और लेकिन उसके बाहर के जीवन से नहीं।

क्योंकि स्वाभाविक विकास के लिए सामग्री का काम मानवीय संपर्क और संबंध करते हैं इसलिए वह मूल्य जो शैक्षणिक कार्य को निर्देशित करे और जो उसका पैमाना बने वह सामाजिक है। कौशल को अर्जित कर लेना अपने आप में कोई अंतिम परिणति नहीं है।

वे तो उपयोग में लाई जाने वाली चीजें हैं, और यह उपयोग ही सामान्य साझा जीवन को उनका योगदान है। वास्तव में उनका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सहायता और आत्म-सम्मानपूर्ण स्वाधीनता को प्राप्त करने में ज्यादा समर्थ बनाना है। जब तक इस परिणति को अन्यों को प्रदान की जाने वाली सेवाओं के संदर्भ में नहीं रखा जाता है, अर्जित कौशलों का आत्मकेंद्रित और अहमन्य उपयोग किया जा सकता है ऐसी प्रशिक्षित चतुराई के साधन के रूप में किया जा सकता है जिसमें एक व्यक्ति अन्यों की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त करता रहे। वास्तव में अक्सर विद्यालय प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देने या पुरस्कार और सम्मान के वितरण पर बहुत भरोसा कर के यही विचार निर्मित करते हैं और उसे बल प्रदान करते हैं कि जो किसी व्यक्ति को विद्यालय से निकलने के बाद अपनी विशेष प्रतिभा और कौशलों के प्रदर्शन के द्वारा अपने साथियों को खुद से कमतर साबित करने की ओर प्रवृत्त करती हैं, जिसमें दूसरों के कल्याण के प्रति कोई सम्मान नहीं होता।

जो बात विद्यालय से प्राप्त कौशल के बारे में सत्य है वही वहां से अर्जित ज्ञान पर भी लागू होती है। शैक्षणिक परिणति और जो सीखा गया है उसके मूल्यों की वास्तविक परीक्षा तो सबके जीवन में सुधार लाने के लिए उसके उपयोग में निहित है। इस बात को कभी भुलाया नहीं जा सकता है कि परम्परागत शिक्षा व्यवस्था की पृष्ठभूमि एक वर्ग आधारित समाज है और जिसमें कुछ खास विषयों जैसे साहित्य या आरंभिक बीज गणित से आगे की गणित पर अधिकार प्राप्त करने के अवसर खास तबकों के सम्पन्न परिवारों में जन्मे लोगों को ही प्राप्त थे। इसी के चलते इन विषयों का ज्ञान सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए तमगा मान लिया गया। अनेक लोगों के लिए ज्ञान प्राप्त करना प्रदर्शन की बात थी। दूसरी तरफ उपयोगी ज्ञान को प्राप्त करना सिर्फ उन लोगों के लिए जरूरी था जो अपनी वर्ग स्थिति के कारण उसे प्राप्त करने के लिए बाध्य थे, ताकि वे अपना जीविकोपार्जन कर सकें। एक वर्गीय रूढ़ि इससे जुड़ी हुई थी और सभी उद्देश्यों के लिए शिक्षा की उपयोग विहीनता के कारण नितान्त व्यक्तिगत संस्कृति का संरक्षण इसकी उच्चतर गुणवत्ता का प्रमाण थी।

यहां तक कि अनेक देशों में शिक्षा के सार्वजनीकरण के बावजूद मूल्यों के यह मानक बने रहे। अहमन्यता का इससे बड़ा कोई उदाहरण नहीं हो सकता जबकि सीखना स्वयं व्यक्तिगत विभेद के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया जाता हो। इस अलगावीकरण के गुण को मिटाने का एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि विद्यालय की सभी स्थितियां वास्तव में सभी व्यक्तियों को व्यवहार में वह ज्ञान उपलब्ध कराए जो सभी के बेहतरी के लिए उपयोग में लाया जा सके।

वर्तमान में संभवतः शिक्षा के दर्शन की सबसे बड़ी आवश्यकता विचार के स्तर पर स्पष्टता और व्यवहार में उसके प्रभाव में इस बात को स्पष्ट करने की है कि इसकी अंतिम परिणति सामाजिक है और यह भी कि विद्यालय में किए जाने वाले व्यवहारों के मूल्यों के अनुमान के लिए इस्तेमाल में लाया जाने वाला पैमाना भी सामाजिक ही है। यह सही है कि शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की संभावित क्षमताओं का अधिकतम विकास करना है। लेकिन अलग से रखने पर यह वक्तव्य अपने पीछे यह सवाल छोड़ता है कि आखिर विकास का पैमाना क्या हो ? स्वतंत्र व्यक्तियों का ऐसा समाज जिसमें सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्यों के माध्यम से अन्यो के जीवन को मुक्त कराने और समृद्ध बनाने की दिशा में योगदान देते हैं, सिर्फ ऐसे ही वातावरण में सभी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपनी अधिकतम संभावनाओं का विकास कर सकते हैं। एक ऐसे वातावरण, जिसमें कुछ लोग आंशिक रूप से गुलामी, निम्न स्तर का, सीमित जीवन अपनाने को विवश हों हमेशा ऐसी स्थितियों का निर्माण करेगा जिसमें उन लोगों का भी विकास अवरुद्ध होगा जिन्हें यह भ्रम हो कि उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता और अबाधित विकास के अवसर प्राप्त हैं।

वर्तमान वैश्विक स्थितियों में शिक्षा के दर्शन को शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बनाए जाने की आवश्यकता क्यों है इसके दो प्रमुख कारण हैं। दुनिया का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा है। व्यक्तिगत समूह, जातियां और नस्लें जो कभी आधुनिक पूंजीवादी उद्योगों की आर्थिक मुहिम से पूर्णतः अछूती बची हुई थीं, औद्योगिक प्रसार के साथ उनके जीवन का हर पहलू अब अच्छे या बुरे-ज्यादातर बुरे- रूप में इन बदलावों से प्रभावित हो रहा है। दक्षिण अफ्रीका के खनन वाले जिलों में स्थानीय लोगों के जीवन का अध्ययन करने के बाद जिनेवा आयोग ने रिपोर्ट में शब्दावली में कुछ बदलाव के साथ दुनिया भर में लोगों के स्वामित्व के बारे में बताया 'अफ्रीकी उद्योगों में पश्चिमी पूंजी के निवेश ने स्थानीय लोगों को अपने श्रम और अपने महाद्वीप के संसाधनों के उत्पादन के लिए विश्व बाजार पर आश्रित कर दिया है।' एक ऐसा विश्व जो बेरहम प्रतिस्पर्धा के द्वारा बड़े पैमाने पर भौतिक लाभ अर्जित करने की अंधी और बहुधा बर्बर दौड़ में लगा हुआ है। ऐसे समय में यह विद्यालयों की जिम्मेदारी है कि वे समझदारी के साथ संगठित हो कर लगातार इस दिशा में प्रयास करें कि प्रत्येक व्यक्ति में सहयोग की इच्छा शक्ति और भावना सर्वोपरि हो और प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक मानवीय अविष्कारों, उद्योग, कौशल और ज्ञान के भौतिक और सांस्कृतिक फायदों में बराबर का हिस्सा मिले। सोच और व्यवहार में इस उद्देश्य की सर्वोपरिता, आर्थिक प्रतिस्पर्धा और शोषण के

कारण पनपने वाली अमानवीयता के प्रतिरोध के अलावा अन्य कारणों से भी अनिवार्य है। यह अत्यंत आवश्यक है कि आने वाली पीढ़ी को एक ज्यादा मानवीय और न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए तैयार किया जाए, ऐसा समाज अवश्य ही बनेगा और जब तक इसके लिए दिलों और दिमागों को शिक्षा के माध्यम से तैयार नहीं किया जाता है यह आशंका बनी रहेगी कि आने वाला यह समाज भी हिंसा से उपजे सामाजिक बदलावों से पैदा हुई बुराइयों से ग्रसित रहे।

खासतौर से वर्तमान समय की एक और आवश्यकता राष्ट्रवादी भावनाओं के अप्रत्याशित उबाल, राष्ट्रवादी और नस्लीय पूर्वाग्रहों, बाहुबल से सारे सावालों का मुंह बंद कर देने की प्रवृत्ति से भी संबंधित है, जो वर्तमान विषय के एक चेहरे को प्रस्तुत कर रही है। दुनिया भर के विद्यालय इसका मुकाबला करने में पूर्णतः विफल रहे हैं अन्यथा इस बुराई का इतने बड़े पैमाने पर प्रसार संभव नहीं था। इस आरोप से बचने का सबसे अच्छा बहाना यह कह देना है कि विद्यालय और शिक्षकों को इस बात का अनुमान ही नहीं था कि ऐसा हो सकता है। किसी ने सपने में भी नहीं सोचा होगा कि भय, संशय, पूर्वाग्रह और घृणा का दानव मानव मस्तिष्क पर इस तरह काबिज हो जाएगा, जिस तरह आज उसने मनुष्य को अपने वश में कर लिया है। लेकिन कोई भी बहाना बहुत देर नहीं चल सकता। अब हम दुश्मन को पहचानते हैं और वह खुले में सबके सामने है। जब तक दुनिया भर के सभी विद्यालय पूर्वाग्रह, अलगाव और घृणा के दानव का मुकाबला करने के लिए सभी लोगों और नस्लों के बीच पारस्परिक सहानुभूति और सद्भावना को लेकर साझा समझ की भावना को विकसित करने के प्रयास में सम्मिलित रूप से लग नहीं जाते हैं तब तक इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि स्वयं विद्यालय ही बर्बरता की इन सामान्य प्रवृत्तियों के पुनरुत्थान में संलग्न हो जाएं। वर्तमान प्रवृत्तियों के बीच इस बात की संभावना बहुत अधिक है क्योंकि यह वे ताकतें हैं जिनका मुकाबला अकेले शिक्षा के दम पर ही किया जा सकता है। ♦

**भाषान्तर : देवयानी**